तत्काल पहुँच, ज्ञान **विषमता** और लोकतंत्र[1]

मैत्रेयी चौधरी

अनुवाद: आयुषी शर्मा[#], **त्रिभू नाथ दुबे**[##]

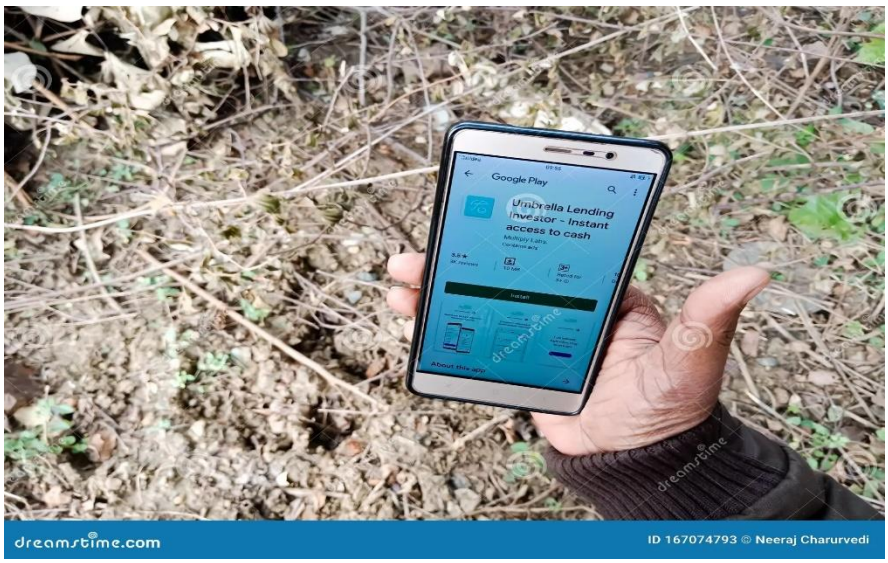

नई सूचना और संचार प्रौद्योगिकियों ने 24×7 ब्रेकिंग न्यूज़, ट्विट्टर विवाद, व्हाट्सएप संदेश, फेसबुक पोस्ट और इंस्टाग्राम से भरी एक दुनिया की शुरुआत की है। इसने भाषा की बाधाओं को तोड़ा है और हमारे लिए तुरंत जुड़ना और सांवाद करना संभव बना दिया है। अब पहले से कहीं जयादा लोग अब सार्वजनिक विमर्श में भाग ले रहे हैं । इससे तो लोगों के बीच आपसी समझ बढ़नी चाहिए थी, बंधुता बढ़नी चाहिए थी और लोकतंत्र जड़ें और गहरी होनी चाहिए थी। लेकिन, कहानी कुछ अलग ही तरह से सामने आई है।

इसके विपरीत, इसने आपसी समझ के लिए अभूतपूर्व चुनौतियाँ खड़ी कर दी हैं। 2017 के अंतिम महीने में एक *उबर* चालक के साथ हुई मेरी बातचीत की एक झलक इस बात को दर्शाती है कि तात्कालिक जानकारी और असमान ज्ञान से परिभाषित संदर्भ में संवाद कितना असंभव हो जाता है। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय (जेएनयू) में, जहाँ मैं पढ़ाती हूँ, जब मैं कार में बैठी, तो उसने पहले यह सुनिश्चित किया कि मैं एक 'प्रोफेसर' हूँ, और फिर मुझसे पूछा कि क्या मैं जानती हूँ कि देश का पहला प्रधानमंत्री कौन था? मैं थोड़ा चौंकी और जवाब दिया, "नेहरू"। मेरे जवाब की पहले से ही अपेक्षा करते हुए उसने – जैसे टीवी क्विज़ मास्टर करते हैं, जिन्हें शायद हम दोनों ने देखा होगा – कहा, "ग़लत!" फिर उसने बताया कि पिछली सरकार ने यह झूठ फैलाया था, लेकिन अब यह नहीं चलेगा, क्योंकि "गूगल" अब लोगों को सीधे सच्चाई बता देता है। उसके अनुसार, असली पहले प्रधानमंत्री सरदार पटेल थे। उसने जो दूसरा "ज्ञान" दिया वह यह था कि कांग्रेस पार्टी के गांधी ने भगत सिंह को, जो भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) के संस्थापक थे, मरवा दिया था। शुरुआती झटके के बाद मैंने उसे समझाने की कोशिश की, लेकिन ज्यादा सफल नहीं हो पायी। इंटरनेट पर डेटा कैसे अपलोड होता है, यह समझाने में मुझे कठिनाई हो रही थी और मैं खुद को असहाय और विचलित महसूस कर रही थी। मेरी घबराई प्रतिक्रिया को वह एक शांत आत्मसंतोष के साथ देख रहा था। वह बोलता रहा, और बताता गया कि वह किस तरह लगातार कंप्यूटर से ज्ञान प्राप्त करता रहता है।

सिर्फ हमारे दावे ही अलग नहीं थे, बल्कि उसके दावों का आधार भी मेरे से बिलकुल भिन्न था। उसके लिए, गूगल से मिली जानकारी परम और अंतिम थी। उसमें प्रामाणिकता और विशेषज्ञता थी। मैं, जेएनयू में एक प्रोफेसर होने के बावजूद, इस नई सामाजिक व्यवस्था में वैधता नहीं रखती थी। इसलिए, जो कुछ भी मैंने कहा, वह उसके लिए असत्य था। हम दोनों संवाद की एक ही दुनिया में नहीं थे। एक क्षण के लिए मैंने सोचा - क्या होता अगर मैं उसकी बात से सहमत हो जाती? क्या तब मुझे "सत्य" बोलने वाली माना जाता? और क्या तब मेरी एक प्रोफेसर के रूप में प्रतिष्ठा तुरंत फिर से स्थापित हो जाती? संभावना है कि "हाँ"। क्योंकि तब हम "एक ही पक्ष" में होते। यह जानकारी कहाँ से प्राप्त की गई है, या कोई किस "पक्ष" से संबंध रखता है—यही तय करता है कि कोई "तथ्य" वैध है या नहीं; न कि वह प्रक्रिया जिससे उस तथ्य को स्थापित किया गया है।

इस अनुभव ने मुझे सामाजिक विज्ञानों में एक बुनियादी अंतर की ओर वापस लौटने के लिए प्रेरित किया - 'परिचय जन्य ज्ञान' (नॉलेज बाय अक्वेंटेन्स) और 'विषयगत ज्ञान' (नॉलेज अबाउट) के बीच का अंतर। 'परिचय जन्य ज्ञान' उस प्रत्यक्ष परिचय से जुड़ा होता है, जो किसी घटना या वस्तु के साथ हमारे सीधे अनुभव से आता है अर्थात् जो हम *अनुभव* करते हैं। 'विषयगत ज्ञान' उन संरचनाओं (जैसे पूंजीवाद, राज्य, पितृसत्ता) की कार्यप्रणाली को समझने से संबंधित है। ये ऐसी अमूर्त अवधारणाएँ हैं जो आवश्यक नहीं कि प्रत्यक्ष अनुभव से समानता रखती हों।

कुछ समय पहले तक, 'परिचयजन्य ज्ञान' (सामान्य-बोधजनित ज्ञान) का मतलब वैसी जानकारी से होता था, जो हम अपने परिवार और अपनी संगति के लोगों से 'देखकर' और 'सुनकर' प्राप्त करते थे। लेकिन, आज की मीडियाकेंद्रित दुनिया में यह कहानी कहीं ज़्यादा जटिल हो गई है। उस *उबर* ड्राइवर ने अपना ज्ञान किसी रिश्तेदार से नहीं लिया था। उसने अपनी लोकतांत्रिक 'स्वतंत्र इच्छाशक्ति' से गूगल का इस्तेमाल किया था और भगत सिंह के बारे में 'सच' को 'खोज' लिया था।

समस्या यह है कि भले ही उसे ऐसे 'तथ्यों' तक पहुँच प्राप्त है, लेकिन यह संभव है कि उसे यह समझ न हो कि ये 'तथ्य' बनाए कैसे जाते हैं; या यह कि एल्गोरिदम उसे ठीक वही तथ्य दिखाता है जिसकी वह खोज कर रहा है। इसके विपरीत, समाजशास्त्रीय समझ केवल 'परिचय' या प्रत्यक्ष अनुभव से कहीं अधिक होती है। यह उन परिस्थितियों और जटिल प्रक्रियाओं की अनुभवसिद्ध समझ को शामिल करती है, जिनमें लोग अक्सर फंसे होते हैं बिना इस बात की स्पष्ट चेतना के कि वास्तव में उनके साथ क्या हो रहा है। उदाहरण के लिए, समाजशास्त्रीय समझ हमें यह जानने में मदद करती है कि उपनिवेशवाद, पूंजीवाद, वर्ग, नस्ल, जाति और *बिग डेटा* जैसी शक्तियाँ किस प्रकार हमारे व्यक्तिगत जीवन को संरचित करती हैं। इनकी कार्यप्रणालियां जटिल होती हैं और सामान्य दृष्टि से दिखाई नहीं देती। ये कोई 'तथ्य' नहीं होते।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद (एन सी इ आर टी) के लिए समाजशास्त्र की पाठ्यपुस्तकें लिखने के दौरान मेरी जो बातचीत स्कूल शिक्षकों से हुई, उससे यह संकेत मिला कि 'तथ्यों' की इस सीधी-सपाट और बिना सवाल उठाए जाने वाली धारणा से शिक्षक भी अछूते नहीं हैं। शिक्षक चाहते थे कि पाठ्यपुस्तकों में और अधिक 'तथ्य' हों — जैसे जनसंख्या वृद्धि के आँकड़े, विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं का विवरण, सामाजिक समस्याओं की सूची आदि।

हो सकता है मैं गलत हूँ, लेकिन मेरा अनुमान है कि इस जानकारी-प्रधान या ठोस 'तथ्यों' पर ज़ोर देने के पीछे कुछ कारण हैं। *पहला,* छात्र 'तथ्यों' को याद कर सकते हैं और दोहरा सकते हैं, जिससे शिक्षक प्रश्न बना सकते हैं और उत्तरों का मूल्यांकन कर सकते हैं—उसमें अस्पष्टता या जिसे हम विषयपरकता (सब्जेक्टिविटी) कहते हैं, की गुंजाइश बहुत कम होती है। *दूसरा,* दुर्भाग्यवश हमारी उच्च शिक्षा प्रणाली भी इसी सोच पर आधारित रही है कि सामाजिक विज्ञान का ज्ञान 'तथ्यों' का एक संग्रह मात्र है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (यू जी सी) और संघ लोक सेवा आयोग (यू पी एस सी) द्वारा आयोजित विभिन्न परीक्षाएँ इस बात की पुष्टि करती हैं। हमारी सामाजिक विज्ञान की शिक्षा में

शायद ही कभी इस बात पर ध्यान दिया गया है कि प्रमाण-आधारित तथ्यों (ऐतिहासिक या समकालीन) तक पहुँचा कैसे जाता है, उन्हें चुनौती कैसे दी जाती है और किस तरह वे समय-समय पर संशोधित भी किए जाते हैं? *तीसरा,* ऐसे 'सैद्धांतिक' मुद्दों से निपटने के प्रयासों को अक्सर 'अभिजात्यवादी' (एलिटिस्ट) और व्यापक छात्र समुदाय के प्रति अन्यायपूर्ण माना जाता है। इसके विपरीत, तथ्यात्मक जानकारी को अधिक सुविधाजनक और 'यूज़र फ्रेंडली' समझा जाता है।

यह हमारी त्रासदी है कि हमारी स्तर-हीन उच्च शिक्षा ने यह सुनिश्चित कर दिया है कि शिक्षकों के पास भी यह शैक्षिक क्षमता नहीं है कि वे साक्ष्य-आधारित निष्कर्षों और 'राष्ट्रवादी' गौरव के सतही दावों के बीच अंतर कर सकें। ऐसे दावे, जैसे "नारद मुनि गूगल जैसे थे", "महाभारत में इंटरनेट था", या "मंत्रों ने गति के नियमों को संहिताबद्ध किया", इसी प्रवृत्ति के उदाहरण हैं। आज नेहरू को पटेल से बदला जा सकता है। नेहरू की जगह कोई और नाम कर देना या प्राचीन भारत के चमत्कारों के बार-बार उल्लेख करने के स्पष्ट वैचारिक कारण हैं।

परन्तु मेरा सरोकार यहाँ इस बात से नहीं है। मेरी चिंता उस सहज सरलता से है, जिससे एक 'तथ्य' किसी अन्य 'तथ्य' की जगह ले लेता है, या एक 'इतिहास' किसी दूसरे 'इतिहास' को प्रतिस्थापित कर देता है। यह दशकों में हमारी सामाजिक विज्ञान शिक्षा के खोखले होते जाने को दर्शाता है। सामाजिक विज्ञान अब केवल असंबंधित 'तथ्यों' के एक संग्रह में बदलकर रह गया है। अत: यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि छात्रों को इन्हें पढ़ना थकाने वाला लगता हैं। और वे शिक्षक, जिन पर छात्रों को सामाजिक विज्ञान में उच्च अंक (यहाँ तक कि पूरे अंक) दिलवाने का दबाव होता है, हताशा में 'तथ्यों' की तलाश करते हैं। वे उन विवरणों को छोड़ देते हैं जो तथ्यों को आपस में जोड़ते हैं और 'विषयगत ज्ञान' (नॉलेज अबाउट) अर्थात् सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रक्रियाओं की गहन समझ प्रदान करते हैं।

इसीलिय ये आश्चर्य की बात नहीं है कि हमारे इतने सारे मध्यवर्गीय लोगों (जो अन्य क्षेत्रों जैसे सॉफ्टवेर और आईटी में अत्यंत कुशल हैं) को इतिहास या समाज के विषय में का कोई गहन ज्ञान नहीं रखते सिवाय उन 'तथ्यों' के जो वे *सोशल मिडिया* पोस्टों से प्राप्त करते हैं, ठीक वैसे ही जैसे वह *ऊबर* चालक। हमारी भाषा की सीमाएँ ही हमारी संसार की सीमाएँ निर्धारित करती हैं। इस दुनिया में टेलीविज़न की प्रश्नोत्तरी कार्यक्रमओं और सामाजिक विज्ञान में अंतर करने जेसा कुछ भी नहीं है। इस 'स्मार्ट' और तात्कालिक समय में, हमें विवरण भ्रमित करनेवाले और अनावश्यक लगते हैं । आकर्षक शब्दावली (बज्ज़वर्ड्स) ही अर्थपूर्ण प्रतीत होती है। हम भावनात्मक स्तर पर जुड़ते हैं; और उत्तेजक भाषणों पर ठीक वेसी ही प्रतिक्रिया देतें है जेसी की पटकथा लिखने वाले हमसे उपेक्षा रखते हैं। जैसे की हमें फिल्म में पता होता है कि 'खलनायक' कौन हैं, वैसे ही हम 'जानते हैं' कि किसी भी सामाजिक संघर्ष में खलनायक कौन है।

समाज में होने वाली घटनाओं - चाहे वो ऐतिहासिक हों या समकालिन – को शायद ही कभी 'नायक-खलनायक' के सरल रूपक के माधयम से समझाया जा सकता है। उदाहरणस्वरूप, इतिहास की पुस्तकें हमें बताती हैं कि ऑस्ट्रिया के आर्कड्यूक फ्रांज फर्डिनेंड की हत्या ने प्रथम विश्व युद्ध की शुरुआत कर दी। परन्तु यह उसका वास्तविक कारण नहीं था। यह घटना तो केवल एक 'शुरुआत' (*ट्रिगर*) थी, जो अंतरराष्ट्रीय राजनीति और साम्राज्यवादी शक्तियों के उपनिवेशों पर अधिकार के संघर्ष की पृष्ठभूमि में घटित हुई थी। किसी घटना के लिए एक निश्चित कारण खोज लेना सामाजिक विज्ञान के मूल सिद्धांतों का उल्लंघन है। लेकिन आज हम न केवल एक 'तात्कालिक' बल्कि बहुत ही ध्रुवीकृत समय में भी जी रहे हैं। हम हमेशा से 'जानते' रहे हैं कि खलनायक कौन है। वह हमेशा "अन्य " ही होता है।

आइये हम उस, शुरुआत (*ट्रिगर*) प्रश्न को थोड़ा और गहराई से देखें। प्रथम विश्व युद्ध में 1.5 करोड़ से अधिक लोग मारे गए और 2 करोड़ लोग घायल हुए। संभवतः सौ साल से भी अधिक पुराना यह युद्ध, जो दूर देशों में लड़ा गया था, आज हमारे लिए कोई खास रुचि का विषय नहीं होगा। परन्तु यह तथ्य कि युद्ध में दस लाख से अधिक भारतीय सैनकों

ने विदेशों में सेवा दी; जिनमें से 62,000 मारे गए और 67,000 घायल हुए , हमारी वर्तमान संवेदनाओं को ज़रूर झकझोर सकता है। जनसंपर्क उद्योग इन तथ्यों को तत्काल एक गर्व महसूस कराने वाले, 'राष्ट्रवादी' संदेश में बदल देगा, जिसे 'गुड मॉर्निंग' और दिन के प्रेरक उद्धरण (जैसे "सिंड्रेला इस बात का प्रमाण है कि जूतों की एक नई जोड़ी आपका जीवन बदल सकती है") की तरह आगे साझा किया जा सके। हम ऐसे 'ज्ञान' से 24x7 भरे रहते हैं। इनका कोई संदर्भ नहीं होता। ये कोई अंतर्दृष्टि प्रदान नहीं करते। ये 'ज्ञान' के केवल आभूषण हैं; और अब तो ये तेजी से हमारी पहचान के प्रतीक बनते जा रहे हैं।

इसका अर्थ यह नहीं कि सामाजिक विज्ञान के सिद्धांतों को उसी प्रकार पढ़ाएँ जैसे किसी स्नातकोत्तर कक्षा में 'पद्धतिशास्त्र पर दार्शनिक चर्चाएँ होती हैं। सवाल यह है कि, क्या हम ठोस घटनाओं का उपयोग कर के समाजशास्त्रीय अवधारणाओं जैसे 'औपनिवेशिकता', 'लिंग' और 'अनपेक्षित परिणाम' पर चर्चा कर सकते हैं। उदहारण के लिए, कोविड-19 महामारी के दौरान, *बीबीसी* के लिए लिखते हुए सौतिख बिस्वास ने *स्पैनिश फ्लू* से संबंधित विवरण प्रस्तुत किए, जो यह दर्शाते हैं कि उस समय सामाजिक संदर्भ में वायरस कैसे फैला था और यह भी समझने में सहायता करते हैं कि इतिहास में महिलाओं और वंचित वर्गों के साथ सामाजिक दुर्व्यवहार किस प्रकार घटित हुआ था:

"वह घातक फ्लू जो जून 1918 में बम्बई (वर्तमान में में मुंबई) के बंदरगाह पर लौटते सैनिकों के खड़े जहाज से दबे पांव घुसी .... स्वास्थ्य निरीक्षक जे एस टर्नर के अनुसार 'चोर की तरह चुप-चाप आने वाली यह बीमारी तीव्र गति से फैलने वाली और घातक थी'। इस इन्फ्लुएंजा के प्रकोप ने 1.7-1.8 करोड़ भारतीयों के प्राण लिए जो कि प्रथम विश्व युद्ध के दौरान हताहत हुए लोगों की संख्या से भी अधिक थी। भारत को भारी जनहानि का सामना करना पड़ा – इसकी 6 प्रतिशत आबादी ख़त्म हो गई। बीमारों की सेवा-सुश्रुषा करते कुपोषित अस्वच्छ और बंद घरों में रहनेवाली औरते पुरुषों की तुलना में अधिक काल-कवलित हुईं"।

ऐसे प्रयास पहले भी किये गए हैं। उत्कृष्ट पाठ्य-पुस्तकें भी लिखी गयी हैं । लेकिन हम कई कारणोंसे पीछे रह गए । *पहला,* हमारे पास सामाजिक विज्ञानों में वह प्रशिक्षण नहीं था जिससे हम इन पुस्तकों को वास्तव में एक संसाधन के रूप में उपयोग कर सकें। *दूसरा,* हमारी मूल्यांकन पद्धति ऐसी है जो श्रेष्ठ पुस्तकों और शिक्षकों को भी विफल कर सकती है। *तीसरा,* निकट भविष्य में इसमें रुचि रखने वाले शासन के होने की कोई संभावना नहीं दिखती। *चौथा,* नयी मीडिया से बढ़ावा पा कर हमारी संवेदनाएं तुच्छता और घृणा के घातक मेल से बदल चुकी हैं। इसीलिए, आगे बढ़ने का एक मात्र तरीका नए मीडिया को अपने हाथ में लेना है, और सामाजिक विज्ञानों, उसके आनंद और मानवतावाद और लोकतंत्र के लिए उसकी अनिवार्य भूमिका के प्रति जन जागरूकता पैदा करना है।

अनुवादक:

[#] **सहायक आचार्य - समाजशास्त्र, मोदी विधि महाविद्यालय, कोटा**

[##] **आचार्य - समाजशास्त्र, राजकीय कला कन्या महाविद्यालय, कोटा**

---

[1] यह लेख 'डूइंग सोशियोलॉजी' ब्लॉग पर प्रकाशित लेख '**Instant Access, Unequal Knowledge and Democracy – Maitrayee Chaudhuri'** का साभार अनुवाद है।' यह लेख मूल रूप से *'इंटरेक्शन्स'* के अंक 2 की चौथी तिमाही में प्रकाशित हुआ था, जिसे इस लिंक पर देखा जा सकता है।